

29. कविता का देश

—अशोक वाजपेयी

बाहर में कर दिया गया हूँ। भीतर, पर, भर दिया गया हूँ।

—निराला

आगर हम हिंदीभाषी समाज और कविता के सम्बन्ध पर विचार करें तो आज जो स्थिति है वह बहुत विचलित करने वाली है। कविता का आज समाज से जितना सीधा सरोकार है, शायद पहले कभी नहीं था। कविता में नितांत समसामयिकता एक परम मूल्य की तरह प्रचलित है : आज जो हो रहा है, आज के जो दबाव-तनाव हैं, आज की हालत के बारे में आज की हिंदी कविता का अधिकांश सीधे-सीधे बात करता है। पर विडम्बना यह है कि कविता के प्रति समाज की विमुखता या उदासीनता भी शायद अभूतपूर्व ही है। हिन्दी अंचलों में हर वर्ष लाखों छात्र-छात्राएँ अपनी कक्षाओं और पाठ्यपुस्तकों में कविताएँ पढ़ते हैं और उनमें से एक प्रतिशत भी कविता में रुचि या उसका रस लेने के क्षेत्र में थम नहीं पाते। जिसे हम महत्त्वपूर्ण और विचारणीय कविता कहते हैं उसके पाठकों या श्रोताओं की संख्या हिंदीभाषी जनसंख्या के मान से लगभग नगण्य है क्योंकि पुस्तकें, वे भी कविता-की, खरीदने वालों की संख्या लज्जाजनक रूप से इतनी कम है कि उसे संख्या मानने में भी संकोच होता है। यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि किस तरह के कविता-विमुख और पुस्तक-उदासीन समाज में आज हिन्दी कविता लिखी जा रही है।

हिन्दी आज भी स्वयं अपने क्षेत्रों में विचार और चिंतन की भाषा नहीं बन सकी है। यह नहीं कि उसके ऐसा बनने में कोई आत्यंतिक असामर्थ्य है। सामर्थ्य का कोई अभाव नहीं है पर फिर भी तथ्य यह है कि उसमें दर्शन, विज्ञान, अर्थशास्त्र, मनोविज्ञान आदि का कोई मौलिक या तात्त्विक कार्य नहीं हुआ है। हम ऐसे किसी बड़े दार्शनिक, अर्थशास्त्री, वैज्ञानिक का नाम नहीं ले सकते जिसका बुनियादी कार्य सीधे में हिन्दी में हुआ और मान्य हुआ हो। क्या इससे यह दुर्भाग्यपूर्ण निष्कर्ष नहीं निकलता कि हिन्दी मानसिकता पर विचार, सूक्ष्मताओं और जटिलताओं के प्रति उदासीनता है? दूसरे शब्दों में यह कि हिन्दी भाषा जैसी वह आज है न साहित्यप्रेमी है, न विचारप्रेमी। इसे शायद इस तथ्य से भी प्रमाणित गाना जा सकता है कि फूहड़ और सतही का आकर्षण हिन्दी क्षेत्रों में कई गुना बढ़ा और फला-फूला है। हमारे बड़े कवि और लेखक गौरवग्रंथ अगर पाठ्यक्रमों में न हो और अगर, साहित्य से किसी बुनियादी लगाव के कारण नहीं बल्कि शुद्ध प्रोफेशनल विवशता के चलते फैला विराट् आलोचना और शोध का उद्योग न हो, तो साहित्य बहुत हाशिये की चीज भर रह जाएगा। यह तो शायद हमारा अपना मनोबल हर हालत में ऊँचा रखने का हठयोग है कि हम इस स्थिति की समूची हिन्दी संस्कृति का एक बुनियादी संकट नहीं मानते।

यह बात भी नजरंदाज़ नहीं की जा सकती है अख़बारों में मासमीडिया पर, राजकाज में सार्वजनिक अभिव्यक्ति के अन्य मंचों पर हिन्दी भाषा के साथ जो अनाचार या अत्याचार हो रहा है उसका कोई प्रतिरोध हिन्दी समाज में कम से कम दीखता तो नहीं है। उदारता और ग्रहणशीलता के नाम पर हर किसी को यह छूट मिली हुई है कि वह व्याकरण, वाक्यविन्यास, उच्चारण, हिज्जों आदि के साथ जो चाहे मनमानी करे। जो चाहे हमें उपदेश देने का अधिकार पा गया है कि हिन्दी भाषा को कैसी होनी चाहिए या कि उसे अभी किस दिशा में विकास करना है। अपनी भाषा के प्रति जैसा लगाव या ममत्व कई हिन्दीतर अंचलों में है उसकी तो जैसे कल्पना भी हमारे यहाँ करना असम्भव है। मराठी में लेखकों की एक प्रदेशव्यापी यात्रा ग्रन्थाली निकालती है और लाखों रुपयों की पुस्तकें सीधे पाठकों को बेचकर सम्पन्न होती है। हिन्दी में सामान्य नागरिक तो दूर अब हिन्दी के वैध विद्यार्थी भी नहीं जानते या जानना चाहते कि हमारे आज के महत्त्वपूर्ण लेखक या ग्रंथ कौन से हैं।

यह नहीं कि हिन्दीभाषी साहित्य या कविता के नाम पर कुछ पढ़ या सराह नहीं रहे हैं : घटिया और सतही, सनसनीखेज़ और फूहड़ साहित्य का व्यापार विराट् है और अपार हिन्दीजन द्वारा ही सम्पोषित है। लाखों लोग घटिया ढंग से हास्य और व्यंग, दयनीय रूप से भावुक और गलतशु, क्लीशों से भरी कविता आधी-आधी रात तक बैठकर सुनते हैं : वे उन लेखकों और कवियों की रचनाएँ हैं जिनका हमारी सारी आलोचना या गम्भीर और उत्तरदायी साहित्य-चर्चा में भूल से भी कभी जिक्र भी नहीं होता। कारण जो भी हो यह मानने से कोई छुटकारा नहीं कि जब हिन्दी कविता ने समकालीन जीवन, उसके अंतर्विरोधों और संघर्षों से, उसकी बहुलता और गहराई से जूझने की इतनी व्यापक और खरी चेष्टा शुरू की है तब उसके लिए हिन्दी समाज में बहुत कम जगह बची है। कविता का सामाजिक और आंतरिक व्योम बहुत विस्तीर्ण हो गया है पर उसका भौतिक व्योम इतना संकीर्ण हो गया है कि उसे शायद व्योम कहना ही नहीं चाहिए—वह निरा सँवरा-सा अवकाश भर है बल्कि शायद कहा तो यह भी जा सकता है कि हिन्दी अंचल जिस तरह के दायवंचन की गिरफ्त में है और उसमें जिस तरह की सांस्कृतिक अराजकता फैल गई है उसमें महत्त्वपूर्ण कुछ करने की, अर्थात् स्थापित व्यवस्था को किंचित् विचलित करने की एक अविचारित और उपेक्षा-भरी छूट भर है।

हिंदी समाज के कुछ और पक्षों पर भी ध्यान देना, इस सिलसिले में, ज़रूरी है। किसी भी समाज में सूक्ष्मता और जटिलता के प्रति प्रापक आकर्षण नहीं होता जबकि सब जानते हैं कि किसी भी समाज में सूक्ष्मता और जटिलता के प्रति एक तरह की हिंस्र और आक्रामक असहनशीलता बढ़ी है : हिंदी में—और उसका प्रभाव उसकी आलोचना पर भी पड़ा है—सूक्ष्म और जटिल असह्य है, गभग अमान्य। यहाँ विस्तार में जाना ज़रूरी नहीं है कि कैसे एक जटिलता-विरोधी नया शास्त्र विकसित किए जाने की गम्भीर ष्टा हो रही है और कैसे हमारी कृतियों और लेखकों को सहजता-सरलता की नयी सारिणियों में रखा जा रहा है और कैसे इस ष्टा का अर्थ अंततः हिंदी की अपनी जातीय परम्परा का अवमूल्यन है। यह बताना अनावश्यक होना चाहिए कि कबीर, तुलसीदास, साद, निराला, अज्ञेय, मुक्तिबोध, शमशेर, रघुवीर सहाय और त्रिलोचन सार्थक और अनिवार्य रूप से जटिल हैं और उनका तथाकथित टूटकपन या जीवन-पक्षधरता इस जटिलता के विरुद्ध नहीं जाती : बल्कि यह जटिलता का उस पक्षधरता या जीवनसक्ति का अनिवार्य अनुषंग है। जटिलता और सरलता का धुवीकरण अवास्तविक है—एक ही कवि में, जैसे कि जीवन में भी, ये दोनों जब-तब ग साथ-साथ हो सकते हैं। कई बार ऊपर से सरल लगने वाली अभिव्यक्ति अपने निहितार्थों में खासी जटिल हो सकती है। अलबत्ता यर्थ का उलझाव वांछनीय नहीं है जैसे कि सूक्ष्मताओं और उलझनों को नज़रंदाज करती सरलता भी नहीं—दोनों ही आवस्थाओं में जीवन की, सच्ची रचनात्मकता की उपेक्षा होती है।

हिंदीभाषी अंचल में राज बढ़ता जाता है, समाज घटता जाता है। ऐसे अनेक क्षेत्र हैं जो सदियों से राज के हस्तक्षेप से बाहर माने जाते थे। वे सब धीरे-धीरे राज के दायरे में आ गए : राज ने उन्हें समाज से लगभग छीन लिया है और हमने ऐसा होने को अपना मूक-मुखर समर्थन दिया है। समाजिक कर्म और सार्वजनिक जीवन के इतने सारे क्षेत्र हैं जिनमें हिंदी अंचलों में कोई स्वतः स्फूर्त आंदोलन या सामाजिक सक्रियता नहीं है जबकि उदाहरण के लिए महाराष्ट्र, गुजरात या केरल में शिक्षा, पर्यावरण, संस्कृति आदि क्षेत्रों में समाज की उपस्थिति और क्रियाशीलता प्रमुख है न कि राज की। हिंदी में तो साहित्यिक पुस्तकों का प्रकाशन पाठकों पर नहीं सरकारी खरीद पर भयावह रूप से निर्भर है; कई बार तो यह दुस्स्वप्न सताता है कि जल्दी ही हम हिंदी के समाज में नहीं हिंदी के राज में रहने लगेंगे। समाज तो कविता में दिलचस्पी ले सकता है, राज नहीं। विशेषतः प्रजातांत्रिक राजव्यवस्थाएँ तो साहित्य की उपेक्षा ही करती हैं—अलबत्ता सर्वसत्तावादी राजव्यवस्थाएँ साहित्य को खतरनाक मानकर उस पर ध्यान एकाग्र करती हैं। विडम्बना यह है कि समाज का राजीकरण उस अंचल में हो रहा है जहाँ जन के नाम पर साहित्यिक हलकों में बड़ी गहमागहमी है और जहाँ अभी कुछ सदियों पहले सूरदास जैसे महाकवि हुए हैं जिनके लिए मानो राज का कोई अस्तित्व ही नहीं था।

हिंदी साहित्य इस बात पर सचमुच गर्व कर सकता है कि उसमें किसी तरह का धार्मिक-साम्प्रदायिक लेखन सम्भव ही नहीं है। सम्प्रदायवादी भले किसी लेखक या कृति का दुरुपयोग कर लें पर कोई बाकायदा महत्त्वपूर्ण या विचारणीय लेखक या कृति हिंदी में आज नहीं है जिसे हम साम्प्रदायिक कह सकें। इसे हिंदी की जातीय परम्परा का एक मूल तत्त्व ही कह सकते हैं कि उसमें दृष्टियों की बहुलता का और इसलिए समभाव का सहज और निरंतर स्वीकार है।

यहाँ हम याद कर सकते हैं कि 1933 में सुधा में लिखते हुए निराला ने कहा था : “भारतीयता के नाम पर जिस कट्टरता, सीमित भावों और कार्यों का प्रचार किया जाता है, रक्षा की जाती है, वह अस्तित्व को कायम रखने के जगह नष्ट ही करती है। अस्तित्व तो व्याप्ति ही से रह सकता है। यहाँ का सनातन धर्म व्याप्ति है भी।” फिर ऐसा क्यों है कि हिंदी अंचल ही देश में सबसे अधिक साम्प्रदायिकताग्रस्त है? इधर सबसे अधिक दंगे और धार्मिक उन्माद का सबसे व्यापक उभार हिंदी अंचल में ही है। थोड़ा ठिठककर सोचें तो क्या राजनीति का सबसे अधिक अपराधीकरण भी हिन्दी अंचल में नहीं हुआ है? क्या हम यह नहीं कह सकते कि हिंदी अंचल का प्रभुत्ववाला वर्ग हिंदी के अपने मौलिक संस्कारों के विपरीत जाकर भी इस अंचल में अपना प्रभुत्व जमाने में सफल हुआ है और इस अर्थ में हिंदी में साहित्य और समाज के बीच नहीं तो भाषा और प्रभुत्व के बीच सम्पूर्ण विच्छिन्नता है। यह विच्छिन्नता साहित्य को तो सार्वजनिक जीवन के हाशिये में ढकेलती ही है, हिन्दी भाषा और जन की सांस्कृतिक नियति को एक विकट खतरे में डाल रही है। आज की कविता इस परिस्थिति में अगर प्रायः आत्मसम्बोधित है तो इसमें आश्चर्य नहीं होना चाहिए। अगर भाषा ही कभी कविता के सम्बोधन को अनावश्यक मान ले तो बात और है अन्यथा एक से समाज में जहाँ प्रभुवर्ग कविता को फ़िज़ूल मानता हो और जन उसके प्रति उदासीन हो, कविता अपना स्वत्व और सत्व आत्मसम्बोधित होकर ही बचा सकती है।

निराला ने 1933 में ही एक और महत्त्वपूर्ण टिप्पणी की थी : ‘जनता साहित्य के साथ नहीं रहती, साहित्य के साथ लायी जाती है। पर, हमें विश्वास है, साहित्य की महाप्राणता, जो जनता को ज्ञान के भीतर से बहा ले गयी है, एक दिन अपनी शक्ति का परिचय देगी।’ जनता को साहित्य के साथ लाने का प्ररूत करने वाले हमारे समाज में कौन हैं? कुछ संस्थाएँ, उदाहरण के लिए पूरी शिक्षा-व्यवस्था, पत्रिकाएँ, लेखन संगठन और आलोचना का विशद् व्यापार। यहाँ विस्तार में जाना आवश्यक नहीं है पर यह बात नोट की जा सकती है कि ये सभी एजेंसियाँ कुल मिलाकर सफल नहीं हो सकी हैं अन्यथा जनता का, साहित्य के संदर्भ में, इतना विसंस्कारीकरण न हुआ होता कि वह सच्चे, बिचलित करने और दृष्टि देने वाले साहित्य के प्रति इतनी उदासीन रहती और उत्तेजक

और सतही के प्रति इतनी आकर्षित। कई बार तो लगता है कि साहित्य इन एजेंसियों के लिए लक्ष्य नहीं बल्कि अपना प्रभुत्व स्थापित करने और बनाए रखने का उपजीव्य भर है। दिक्कत यह है कि परिस्थिति इतनी विषम लगती है कि निराला की तरह साहित्य की महाप्राणता और उसकी शक्ति में विश्वास निराशा का कर्तव्य जान पड़ता है जनता को 'बहाने' वाली शक्तियाँ साहित्य के लिए कुछ करेंगी या करना भी चाहेंगी या दुराशा मात्र लगती है।

यह माना जाता है कि पिछले पचीस-तीस बरसों में हमने अपनी पश्चिमाभिमुख आधुनिकता की सीमाओं को पहचाना है और एक अधिक जातीय, आत्मविश्वस्त भारतीय आधुनिकता की ओर कदम बढ़ाए हैं। मनुष्य का संसार से सम्बन्ध, मनुष्य और प्रकृति का साहचर्य, मनुष्य की नियति आदि प्रश्नों पर जो पारस्परिक भारतीय दृष्टि रही है और उसके भारतीय मनोरचना और समाजव्यवस्था के लिए जो फलितार्थ हैं उन्हें हमने जानना-पहचानना शुरू किया है। पहले भारतीय मिथकों या पुराणकथाओं की नए अर्थों में व्याख्या करके अपनी जड़ों से जुड़ने की ज़रूरत पूरी हो जाती थी पर अब अधिक गहरे और मूलधर्मी प्रश्नों और चिंताओं से सृजनात्मक कल्पना जुड़ने लगी है : समूची जीवनदृष्टियों और पद्धतियों, उनके हमारे समाज में अभी भी प्रासंगिक और सक्रिय होने की पहचान ने भी परिदृश्य पर प्रभाव डाला है। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि भारतीय सनातनता और अपने समय के सम्बन्धों की द्वंदात्मकता हमारे विचार और सृजन जगत् की अंग बनी है : इतिहास, व्यक्ति, समाज आदि अनेक अपने संदर्भ में अपरीक्षित कोटियों पर हमने पुनर्विचार आरम्भ किया है। नीरंघ्र परम्परावाद (जो पिछले दो सौ वर्षों को एक अनादि-अनंत कालचक्र में विशेष महत्त्व का नहीं मानता) और नीरंघ्र आधुनिकतावाद में (जिसके लिए दो सौ वर्षों के और उस दौरान हावी हुए एकरैखिक ऐतिहासिक समय के अलावा कालचक्र या अन्य किसी जातीय बोध का अस्तित्व ही मानो नहीं है) चल रहे समर और उसके मुहों पर अहसास बढ़ा है। एक नकलची और आत्मतुष्ट प्रभुत्व वर्ग के प्रभाव में हमारा समाज एक अनुसमाज बनकर न रह जाए या किसी तरह के सतही समन्वयवाद में न फँस जाए इसकी चिंता भी बढ़ी है।

इधर सचाई के बड़े दावेदार के रूप में जनसंचार माध्यम भी उभरे हैं। प्राचीनों को इस तरह की स्पर्धा का सामना नहीं करना पड़ा था और अभी बीस बरस पहले तक इन माध्यमों का प्रचार-प्रसार इतना नहीं था कि उन्हें हिसाब में लेना ज़रूरी हो। पर अब दृश्य पूरी तरह बदल गया है : उनके पास अपार साधन हैं और तथ्यों को हबहब तत्परता से सामने लाने की अनेक युक्तियाँ भी। ऐसी हालत में कविता तथ्यसंग्रह के स्तर पर उनका मुकाबला नहीं कर सकती। बल्कि उनसे प्रक्षेपित वास्तविकता के संस्करण ही वास्तविक माने जाने लगे हैं और वास्तविकता के शेष रूप या तो कम वास्तविक या अविश्वसनीय। ऐसे में हो सकता है कि सचाई का वह हिस्सा कविता के पल्ले अभी भी पड़ सके जो इन माध्यमों से उनकी प्राथमिकताओं के चलते छूट जाता है। ज़ाहिर है कि कविता छूटी हुई सचाई से न तो अपना काम चला सकती है, न ही अपने अस्तित्व का औचित्य सिद्ध कर सकती है। कविता अब तथ्यों का दस्तावेज़ या सचाई का विवरण होने के बजाय अपने को कल्पनाशक्ति के सहारे सचाई का नया जौखिम (एडवेंचर) बना सकती है : उसका गल्प हो सकती है जो तथ्यों के बदलने से अप्रासंगिक नहीं हो जाएगा। तथ्य और उनके संग्रह या संयोजन कालांतर में तिरोहित हो सकते हैं पर कल्पना की संरचनाएँ अधिक टिकाऊ सिद्ध हुई हैं।

2

अगर ऊपर किया गया कविता की स्थिति का आकलन सही है तो यह ज़ाहिर है कि बहुत हद तक कविता एक ऐसे समाज में लिखी-पढ़ी जा रही है जिसकी उसे न तो ख़ास परवाह है, न ही शायद कोई ज़रूरत। ऐसी हालत में कविता के सामने दो ही विकल्प हैं : एक तो यह कि वह अपनी स्थिति के ऐसा होने के टैजिक बोझ के साथ सचाई के ऐसे गल्प बनाती रहे जो सिर्फ उसी के बस में हैं और दूसरा यह कि वह उन शक्तियों की पिछलगुआ हो जाए जिनका प्रभुत्व इस समाज में है और इस बहाने कुछ महत्त्व हासिल करने की कोशिश करे। जैसे कि जीवन में, वैसे ही कविता में यह ज़रूरी नहीं है कि इनमें से कोई एक विकल्प ही चुना जाए : सही तो यह है कि हिंदी कविता ने पिछले तीन-चार दशकों में दोनों ही विकल्प, अकसर साथ-साथ आजमाए हैं।

राजनीति, धर्म या विज्ञान संसार को समझने-बदलने के माध्यम हैं। कविता भी ऐसा ही माध्यम है। उनकी एक बिरादरी बनना स्वाभाविक है। लेकिन कुछ माध्यम हैं जो शक्ति और सत्ता से सन्नद्ध हैं और मानव समाज में शक्ति या सत्ता पाने या भोग करने में मदद करते हैं। कुछ हैं जो इस मामले में असहाय हैं : उनकी अपनी सार्थकता और अस्मिता है पर जिस तरह का समाज आज बन गया है उसमें उनके माध्यम से किसी तरह की शक्ति या सत्ता नहीं मिल सकती। कविता उन्हीं निरुपाय माध्यमों में से है। सत्ता की दृष्टि से वह एक अकिंचन कर्म है। बल्कि हमारे जैसे कविता-विमुख समाज में तो वह आर्थिक दृष्टि से भी एक दरिद्र कर्म है। शायद उसकी भौतिक असहायता, अकिंचनता और सत्ता से दूरी ही उसे उसकी आध्यात्मिक गरिमा और उसका शांत अनाक्रामो गौरव देते हैं। कविता का मार्ग चुनना मुक्तिबोध के शब्द लेकर कहें 'गरबीली गरीबी' जानबूझकर वरण करना है। इसे रूमनियत या हवाईपन कहकर व्यावहारबुद्धिवाले खारिज़ करते हैं या उसका मज़ाक उड़ाते हैं। महान् स्वप्नों के एक-एक बार चूर होने वाले समय में दुस्स्वप्नों से आक्रांत युग में यह रूमनियत और स्वप्नशीलता अपनी तथाकथित अप्रासंगिकता से ही अपनी एक अलग

प्रासंगिकता बनाती है। आत्मा के गुप्तचर अपना काम चुपचाप ही कर सकते हैं।

दूसरा विकल्प भी है : अपने को किसी शक्तिशाली का पिछलगुआ बनाकर शक्ति अर्जित करने का विकल्प। इसे स्वीकार करने वाले भी लोग हैं और सिर्फ वे ही नहीं जो कविता को मसलन मनोरंजन उद्योग के साथ जोड़कर उसे तथाकथित जन के बीच लं जाते रहे हैं पर, हमारे लिए अधिक विचारणीय, वे लोग भी जो उसे राजनीति का अनुचर बनाने में उसकी सार्थकता देखते हैं। उनक ख्याल है कि चौंक राजनीति हमारे समय में मनुष्य की नियति को निर्धारित करने वाला सबसे सशक्त और सर्वव्यापी माध्यम है कविता को उससे सम्बन्ध रखना ही चाहिए। कविता और राजनीति में सम्बन्ध हो जैसा कि कविता का जीवन के अन्य माध्यम से यह सर्वथा अभोष्ट और स्वाभाविक है और इसमें कोई उजर की बात नहीं दीखती। पर यह बात जाँच करने की है कि क्या यह सम्बन्ध प्रजातांत्रिक सम्बन्ध है : अर्थात् क्या उसमें समकक्षता और कविता की अपनी स्वतंत्रता का सहज स्वीकार है। क्या यहीं नहीं होता रहा है कि राजनीति का सशक्त, प्रभुत्वशाली, अंतर्विरोधहीन, सुसंगत सत्य कविता की सचाई को अपना स्वाभाविक उपनिवेश मानकर हड़प लेता रहा है? राजनीति का सत्य पूर्वनिर्धारित है और वह कविता की अप्रत्याशित और सुसंगति को विपर्यस्त करने वाली खोजों के लिए उसके पास न तो धीरज है, न ही अवकाश। राजसभा में एक गुरीब बिरादर की तरह बैठना कविता को भाए यह सम्भव तो नहीं होना चाहिए पर अचरज यह है कि ऐसी आत्मसंतुष्टि और कभी-कभार शक्ति का छद्म कविता को मिलते रहे हैं।

कविता को विचार का अनुशासन नहीं माना जाता और प्रायः उसमें व्यक्त या चरितार्थ विचार कवि के निजी हों या यह ज़रूरी नहीं है। पर कवि स्वतंत्र होता है कि वह कहीं से भी अपने लिए विचार चुने और उनका कविता में अभ्यन्त्रीकरण करे। वह परस्परविरोधी विचारों को किसी सार्थक संयोजन में गूँथ सकता है। बिना मलामें को याद किए कि कविता विचारों से नहीं शब्दों से बनती है, यह कहा जा सकता है कि विचार सृजन का एक उपजीव्य है। कोई भी विचार अनुभव और भाषा की अपनी भावाविष्ट प्रक्रिया से सत्यापित होकर ही कविता में अपनी जगह बनाता है। अकसर कविता में वही विचार सम्यक् है जो खुद उसके मूल अनुभव और भाषिक लयात्मकता से उपजा हो, वह नहीं जो, कितना भी सुन्दर या लुभावना क्यों न हो, बाहर से लाया गया हो। कविता की अपनी प्रक्रिया ही, जिसमें समावेशिता, अंतर्विरोधी सूक्ष्मताएँ, स्वतःस्फूर्त स्पंदन, छोटे-छोटे टोस व्यौर आदि अनिवार्य हैं, उसे विचार की अभिव्यक्ति या उपनिवेश बनने से रोकती है। कविता वेमेल को छोड़ती है, अपनी निरंतर सगुणता में, अपने विलोम को नहीं।

इस संदर्भ में हम दो बातें नोट करना चाहेंगे : पहली तो यह कि पिछले कई दशकों से हिंदी कविता में कोई नया वाद या आंदोलन नहीं रहा है और दूसरी यह कि पिछले दो दशकों तथाकथित जनवाद और तथाकथित कलावाद के बीच द्वंद्व बहुत प्रखर और आक्रामक रहा है। ये परस्परविरोधी बातें नज़र आती हैं। इसलिए कुछ खुलासा ज़रूरी है। जिसे हम छायावाद के नाम से जानते हैं और जिसे आधुनिक हिंदी कविता स्वर्णयुग माना जाता है वह बुनियादी तौर पर कविता का अपना आंदोलन था : उसमें निश्चय ही पूर्व-पश्चिम के द्वंद्व की गहरी चेतना थी, सृजनात्मक कल्पना में उत्कट विश्वास था और स्वाभिमानी स्वतंत्रता का प्रखर बोध भी। लेकिन हम छायावाद को बौद्धिक स्तर पर, और उसके तीन-चार मूर्धन्य कवियों के टोस कृतित्व के साक्ष्य पर किसी वाहरी विचारधारा से नहीं जोड़ सकते। उनमें अनेक तरह के विचारों का समुच्चय था पर वह किसी साहित्य के बाहर की विचारधारा से अनुप्रमाणित नहीं था या उसका साहित्यिक संस्करण नहीं था। वह साहित्य का अपना स्वायत्त आन्दोलन था जिसमें वाहरी के विचारों का भी योगदान था लेकिन जिसके अपने स्वायत्त अस्तित्व और पहचान को स्पष्ट ही देखा जा सकता है। यही बात प्रयोगवाद को लेकर भी कही जा सकती है कि उसमें राजनैतिक दृष्टि से विरोधी विचार रखने वाले भी साथ थे क्योंकि वह छायावादोत्तर कविता की भावुकता, सरल दिमागीपन और बुद्धिविरोध के विरुद्ध एक साहित्यिक प्रतिक्रिया थी। स्वयं नयी कविता नामक आंदोलन कभी एक तरह से विचार रखने वालों का नहीं रहा बल्कि उसमें भी अनेक विचारों और भावबोधों का समुच्चय था। प्रगतिशीलता और जनवाद के नाम से जो अत्यंत व्यापक आंदोलन इस समय हिंदी में है वह मौलिक रूप से साहित्य का आंदोलन नहीं रहा है : इसके वावजूद उसका महत्वपूर्ण योगदान रहा है इससे इनकार नहीं है। निराला ने 1934 में कहा था "जो केवल दूसरों के विचारों का संग्रह करते हैं वे लेखक नहीं। वे तो साहित्यिक मज़दूर हैं। उनके परिश्रम का मूल्य अवश्य है, परंतु शाश्वत साहित्य के मंदिर में उन्हें कोई स्थान प्राप्त नहीं हो सकता।"

कविता की स्वायत्तता का आग्रह उसे राजनीति या जनजीवन से विमुख करना नहीं बल्कि इस बात पर बल देना है कि कविता की सचाई दूसरे किसी माध्यम में अनुवाद की जा सकने वाली सचाई नहीं है, कि कविता का सचाई से और इसलिए जीवन से उतना ही सीधा और अर्थसमृद्धिकारी सम्बन्ध है जितना की राजनीति का, कि कविता के लिए समकक्षता की माँग शक्ति और सत्ता के राजनीति के पक्ष में झुके संतुलन को चुनौती देना है, कि कविता राजनीति की तरह पर्याप्त कर्म है और कि कविता भाषा में ऐसा कुछ करती है और उसके माध्यम से जीवन में जो कि राजनीति या अन्य अनुशासन नहीं कर सकते।

दरअसल कई बार तो यह लगता है कि हम विचारों के क्षेत्र में एक तरह के नए रूढ़िवाद या कन्जर्वेटिविज्म के युग में आ गए हैं। हमारा इशारा सिर्फ इस ओर नहीं कि पूर्वी यूरोप में कल तक जो वामपंथ में माने जाते थे वे आज दक्षिणपंथी कहे जा रहे हैं क्योंकि एक नयी क्रांति ने त्राम-दक्षिण के अभी तक प्रचलित विभाजन को उलट-पलट दिया है। हमारा आशय इससे है कि अकसर रूढ़िवाद पहले से चले आ रहे अर्थात् पूर्व-निर्धारित और लगभग स्वयं-सिद्ध मूल्यों की रक्षा करने का प्रयत्न होता है: जिन मूल्यों पर आधारित राजव्यवस्थाएँ यूरोप में ध्वस्त हो चुकीं, जिन मूल्यों की अपराजेयता और प्रासंगिकता पर विशाल प्रश्नचिह्न लग चुके उन मूल्यों को आधार बनाकर हमारे यहाँ जो हो रहा है उसे नया कन्जर्वेटिविज्म ही कहा जा सकता है। विचित्र यह है कि जो इन मूल्यों से सहमत नहीं हैं या उन्हें शंका की दृष्टि से देखते हैं उन्हें प्रतिक्रियावादी कहा जाता है।

इधर की कविता ने लगता है नयी कविता की दो बुनियादी उपलब्धियों को गँवा दिया है। यों इन उपलब्धियों को सीधे छायावाद से भी जोड़कर देखा जा सकता है बल्कि कहना यह चाहिए कि वे कविता में छायावाद की उपलब्धियाँ थीं जिन्हें नयी कविता ने अपने बदले संदर्भ में पुनर्परिभाषित कर एक बार फिर हमारे काव्यसंसार में शामिल किया था। नयी कविता कविता के पुनराविष्कार का आंदोलन था और उसमें विचारों और भावबोधों की विविधता थी, उसमें बराबर एक सघन और उत्कट बुद्धिशीलता थी : कविता निरा भावोच्छ्वास नहीं बौद्धिक कर्म भी था। नयी कविता का श्रेष्ठ सोचती-विचारती कविता है। उसके चलते विचारों का गहरा द्वंद्व कविता की मनोभूमि था। चूँकि इधर धीरे-धीरे विचारधारा या विचारों के साथ कविता का द्वंद्वात्मक सम्बन्ध शिथिल पड़ गया, यह बौद्धिकता में शिथिल पड़ गयी है। इधर के कवियों के विचार चूँकि पहले से ही दिए हुए हैं और अंततः कविता उनका सत्यापन-भर है और उसमें जो विलोम में जाता है वह वर्जित या बहिष्कृत है, एक तरह का बौद्धिक टसपन आना अनिवार्य ही है। हम याद करें कि मुक्तिबोध, अज्ञेय या विजयदेव नारायण साही की कविताएँ गहरे अर्थ में विचारोत्तेजक थीं। उनमें प्रकृति, समाज, व्यक्ति, भाषा आदि के अनेक नए प्रत्याशित और अलक्षित सम्बन्ध प्रकट हो पाते थे। कविता कुछ नया और अपूर्व निर्धारित खोज पाती थी। अब यह खोज ज़रूरी नहीं रही। यह कहना मुश्किल है पिछले दो दशकों की युवा कविता ने इस संदर्भ में नया और विचारोत्तेजक क्या खोजा है : कभी-कभार उसमें एक नए भूभाग को कविता के क्षेत्र में लाने की उत्तेजना और ताज़गी है पर उसकी बौद्धिक मनोभूमि और अन्वेषण दिए हुए या ऊपर से थोपे हुए के अतिक्रमण के रचनात्मक साहस के अभाव में कोई नया सम्बन्ध या दृष्टि नहीं दे पाते। असल में यह शक्तिकेन्द्रों से वैधता चाहती-तलाशती कविता है जिसके अधिकांश कवियों को पीछे छूट जाने का, जन के साथ न माने जाने का भय इतना सताता है कि उनका अकेले होने या रह जाने का साहस शेष नहीं रहा। आइरिश कवि शीमस हीनी ने स्थानीय और प्रादेशिक कल्पना में जो भेद किया है वह इस प्रसंग में हमारे काम का है। स्थानीय कल्पना को अपनी पल्ली या स्थान के कविता के विषय होने की कलात्मक वैधता के बारे में कोई शंका नहीं होती जबकि प्रादेशिक कल्पना हमेशा ही अपने कंधों के ऊपर महानगर की और उसका अनुमोदन पाने के उद्देश्य से ताक रही होती है। इधर के अनेक कवि छोटे-छोटे अश्रुतपूर्व स्थानों से आए हैं पर उनकी कल्पना दुर्भाग्य से स्थानीय नहीं, प्रादेशिक है या स्थानीय से शुरू होकर जल्दी ही प्रादेशिक हो जाती है। यह भी निरा संयोग नहीं है कि उनमें से अधिकांश या तो महानगर पहुँच ही जाते हैं या पहुँचने की निरंतर चेष्टा में लगे रहते हैं।

इधर की कविता की दूसरी कमी है ऐंद्रियता का अभाव। एक तरह से अखबारीपन ने हमारी कविता भाषा को यों ग्रस लिया है कि उसमें पठनीयता और प्रसादगुण तो आ गए हैं पर सम्बन्धों और वस्तुओं की ऐंद्रियता धीरे-धीरे गायब होती जा रही है। यह आश्चर्य की बात है कि पचत्तर बरस की उमर में लिखी गयी शमशेरबहादुर की काल तुझसे होड़ है मेरी में संगृहीत कविताएँ इधर की सबसे ऐंद्रिय कविताएँ हैं। यह विचित्र है कि इधर की कविता हालाँकि युवा कवियों द्वारा लिखी जा रही है, उसमें प्रेम और श्रृंगार का एकदम देश निकाला नहीं तो उनके बारे में अजब-सी झिझक ज़रूर दीख पड़ती है। यह एक नए किस्म की जड़ीभूत सौंदर्याभिरुचि है जो इन अत्यंत मानवीय और स्वाभाविक भावों को कविता में आने से रोकती है। सच्ची, प्रश्नाकुल विचारशीलता और गहरी अचूक ऐंद्रियता का एक साथ शिथिल पड़ना आकस्मिक नहीं है : जो दृढ़ता से सोच नहीं सकता वह गहराई से भोग भी नहीं सकता। इसीलिए इधर की काव्यभाषा में अंतर्ध्वनियाँ नहीं हैं। ये लगभग ज़िद कर इकहरी यथार्थ की दोटूक संरचनाएँ हैं जो अपने पूर्वविचारित सत्य से इतना आक्रांत है कि गल्प बनना भूल जाती हैं।

कविता में नवाचार और प्रयोग की परम्परा भी इधर शिथिल हुई है यह सोचकर विचित्र लगता है कि जिस तरह का और जितना विविध नवाचार अज्ञेय, मुक्तिबोध या शमशेर ने किया या बाद में रघुवीर सहाय, श्रीकांत वर्मा और विनोदकुमार शुक्ल ने, उस तरह की नवाचारिता इधर पिछले दो दशकों में निस्तेज पड़ गयी है। भाषा शिल्प, तकनीक, बिम्बविधान, प्रतीक व्यवस्था आदि अनेक स्तरों पर इन कवियों ने जो प्रयोग किए उनके मुकाबले आज की कविता न तो प्रयोगशील है न ही इन्नोवेटिव। एक तरह से छायावाद से नवाचार की जो परम्परा नयी कविता ने नए रूपसंयोजन कर आगे बढ़ायी थी वह इधर की कविता में आकर सूख गयी लगती है। किसी भी अर्थ में यह अवसान दुःखद और दुर्भाग्यपूर्ण है।

अंत में एक और विडम्बना की ओर संकेत करना ठीक होगा। इधर, याने स्वतंत्रता के बाद के भारत में कविता का सत्ता से आब्सेशन बढ़ा है। स्वयं इस लेखमाला में जो कई रूपक सत्तापरक आए हैं वे इसका अंतःसाक्ष्य माने जा सकते हैं। एक प्रजातांत्रिक व्यवस्था में शायद यह अस्वाभाविक नहीं है। मुक्तिबोध और रघुवीर सहाय जैसे कवियों के यहाँ सत्ता की उपस्थिति हमारी आंतरिकता और हमारे समय का कुछ बहुत विचलित करने वाला गल्प हमारे सामने लाती है। लेकिन इसके कुछ दुर्भाग्यपूर्ण पक्ष भी हैं। एक तो है कि सत्ता के विरोध की सस्ती नाटकीयता का प्रलोभन और उसे पोसनेवाला सरल दिमागीपन। दूसरा है कविता का नवविकसित सत्ता केंद्रों के आसपास एकाग्र होना फिर ये केंद्र राजनैतिक सत्ता के हों, संगठनों के या अखबारों के। तीसरा है एक तरह के नैतिक भोथरेपन का विस्तार जिसके रहते सत्ता के साथ अपने सम्बन्ध का प्रायः कोई आत्मालोची स्पेस नहीं बना पाता पर दूसरों की नीयत पर शंका और अपनी नैतिक श्रेष्ठता एक आदत ही बन जाती है। हम यह भूल-सा गए हैं कि कविता की अदालत की मूल प्रतिज्ञा ही यह है कि वहाँ किसी दूसरे पर अभियोग नहीं लगाया जा सकता है : वहाँ सिर्फ आत्माभियोग की इजाजत है और यह उसकी परम नैतिकता है। वह सत्ता पर संदेह तभी कर सकती है जब पहले अपने पर भी संदेह करे। अपने-अपने कठघरों में स्वेच्छया कैंद लोग दूसरे लोगों के लिए अदालत नहीं हो सकते। कम से कम उन्हें ऐसा होने से बराबर इनकार तो करना चाहिए। कविता का महत्त्व होने में है, किसी और का अनुकरण या संस्करण होने में नहीं।

त्रिलोचन का एक कवितांश है :

दौड़-दौड़कर असमय समय-न आगे आये,
यह कविता क्या जो कोने में बैठ लजाये।

कविता अवश्य दौड़ती है पर जीवन और मनुष्य के लिए, भाषा के लिए, किसी और के लिए नहीं।

(कविता का गल्प से)